

## भ्रमरगीत—परम्परा : उद्भव और विकास

डॉ. आर.पी. वर्मा,

असि. प्रो. एवं अध्यक्ष हिन्दी विभाग,  
इन्दिरा गॉंधी राजकीय महिलामहाविद्यालय,  
रायबरेली, उ.प्र.

हिन्दी साहित्य में 'भ्रमरगीत' की एक लम्बी और काव्यत्व की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध परम्परा रही है, जिसका इतिहास सूरदास से आरम्भ होकर अद्यावधि निरन्तर चलता चल आ रहा है। अतः 'भ्रमरगीत परम्परा' का मूल्यांकन करने से पूर्व यह आवश्यक होगा कि हम पहले यह समझ लें कि 'भ्रमरगीत' शब्द का अभिप्राय क्या है तथा उसका नाम 'भ्रमरगीत' क्यों पड़ा ?

'भ्रमरगीत' प्रधानतः उपालम्भ—काव्य है, जिसके मूल में विप्रलम्भ—शृंगार की भावना मुख्य रही है। कृष्ण जब ब्रज में गोपियों के साथ रासलीला रचाकर मथुरा चले जाते हैं, तो गोपियाँ उनके विरह में अहर्निशि दग्ध होती रहती हैं। मथुरा की राजनीति में व्यस्त कृष्ण को इतना अवकाश नहीं मिल पाता कि वे गोकुल जाकर गोपियों की उस विरह—वेदना को शान्त कर सकें। अतः वे उद्धव को अपना दूत बनाकर गोकुल भेजते हैं, ताकि वे वहाँ जाकर कृष्ण के माता—पिता तथा गोपियों की कुशलक्षेम ज्ञात कर सकें और कृष्ण का सन्देश उन तक पहुंचा सकें। कृष्ण के आदेशानुसार उद्धव गोकुल अथवा ब्रज जाते हैं और वहाँ उनका और गोपियों का जो वार्तालाप होता है, वही साहित्य में 'भ्रमरगीत' के नाम से प्रसिद्ध है। अब प्रश्न उठता है कि—जब यह उद्धव और गोपियों का वार्तालाप है, तो इसका नाम 'भ्रमरगीत' क्यों पड़ा ? उद्धव कृष्ण के दूत, सखा और गोपियों के अतिथि थे, इसलिए उनके पूज्य भी बन गए, और अतिथि अथवा पूज्य व्यक्ति का अपने घर अपने पर अनादर नहीं किया

जाता। परन्तु गोपियाँ एक तरफ तो विरहाग्नि से दग्ध हो रही थीं, तथा दूसरी ओर अपने प्रियतम कृष्ण की हृदयहीनता के कारण उनके मन में कृष्ण के प्रति उपालम्भपूर्ण भयंकर आक्रोश भी था। बड़ों के सामने न तो विरह का खुलकर वर्णन ही किया जा सकता है और न उनका अपमान ही किया जा सकता है, क्योंकि ये दोनों ही कार्य सामाजिक—मर्यादा का उल्लंघन करते हैं। हमारे हिन्दी के कवियों के सम्मुख और सम्भवतः 'भ्रमरगीत' के आदि—जनक भागवतकार के सम्मुख भी यही समस्या थी, इसलिए भागवतकार की उर्वर कल्पना—शक्ति ने इस रोचक प्रसंग के मध्य एक ऐसी घड़टना की अवतारणा कर डाली जिसने उक्त दोनों संकोचों की समस्या को हल कर दिया। भागवत के गोपी—उद्धव—सम्वाद के मध्य कहीं से उता हुआ एक भ्रमर आता है और एक गोपी के पैर पर बैठ जाता है। बस, गोपियाँ उद्धव का पीछा छोड़कर तुरन्त उस भ्रमर पर फट पड़ती हैं, क्योंकि रसिक पुरुष एवं भ्रमर की वृत्तियाँ प्रायः एक—सी होती हैं। इसलिए गोपियाँ भ्रमर के माध्यम से कृष्ण को ही खूब जली—कटी बातें सुनाती हैं। भागवतकार की इस मौलिक उद्भावना का अनुमान सूर से लेकर आधुनिक—काल तक के कविगण करते चले आये हैं। इसी कारण इस प्रसंग का नाम 'भ्रमरगीत' पड़ा है। गोपियाँ उस जली—कटी सुनाती हैं, और साथ ही कृष्ण के प्रति अपनी एकान्त भक्ति और प्रेम—भावना का भी प्रकाशन करती चलती हैं।

परन्तु इसी सम्बन्ध में एक शंका और उठती है। 'भ्रमरगीत' प्रसंग को लेकर शोध करने वाले विद्वानों ने इस परम्परा का विकास दिखाते हुए अनेक ऐसे कवियों एवं उनके काव्य का उल्लेख किया है, जिनमें गोपी-उद्धव वार्तालाप अथवा भ्रमर का कहीं स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं आया है, फिर भी उनकी गणना 'भ्रमरगीत' के अन्तर्गत की गई है। हम ऊपर कह आए हैं कि 'भ्रमरगीत' मूलतः उपालम्भ-काव्य है। अतः साहित्य-शोधकों को जहाँ कहीं भी कृष्ण एवं गोपियों-सम्बन्धी विरह-विषयक उपालम्भ का वर्णन मिला है, उसे उन्होंने 'भ्रमरगीत' की ही संज्ञान प्रदान कर उसकी गणना इसी परम्परा में की है। अतः हम कृष्ण-गोपियों-सम्बन्धी सम्पूर्ण उपालम्भ को 'भ्रमरगीत' मान सकते हैं।

'भ्रमरगीत' परम्परा की खोज करने से पूर्व इस प्रसंग के मूल उद्देश्य का ज्ञान प्राप्त कर लेना भी आवश्यक है, क्योंकि इसके मूल उद्देश्य में समयानुसार परिवर्तन होता आया है। भागवतकार का जो उद्देश्य था-वह सूर का नहीं रहा, और सूर का जो उद्देश्य था-वह वर्तमान-काल के 'हरिऔध' आदि का नहीं था। समष्टि रूप से 'भ्रमरगीत' का मूल उद्देश्य यह माना गया है : 'ज्ञान पर प्रेम की, मस्तिष्क पर हृदय की, विजय दिखाकर निर्गुण-निराकार ब्रह्म की उपासना की अपेक्षा सगुण-साकार ब्रह्म की भक्ति-भावना की श्रेष्ठता की प्रतिष्ठापन।' परन्तु उक्त मूल उद्देश्य सूर एवं उनके कतिपय समकालीन तथा परवर्ती कवियों का ही रहा है, भ्रमरगीत के जनक-भागवतकार का नहीं।

इस भिन्नता को स्पष्ट करने के लिये भागवतकार के मूल उद्देश्य का विवेचन आवश्यक है। भागवतकार के अनुसार-कृष्ण उद्धव को ब्रज जाने के लिये प्रेरित करते हैं। उद्धव को इस प्रेरणा देने में कृष्ण के दो उद्देश्य हैं-1. माता-पिता की कुशल-क्षेम ज्ञात कर उन्हें प्रसन्न एवं सन्तुष्ट करना, तथा 2. गोपियों की

विरह-व्यथा को दूरकर उन्हें सान्त्वना प्रदान करना। यहाँ उद्धव सूर के उद्धव के समान गोपियों की योगमार्ग अथवा ज्ञान का उपदेश देने नहीं जाते। न उन्हें अपने 'ज्ञान' का गर्व ही है। भागवतकार के उक्त दोनों उद्देश्य ऊपर से देखने पर व्यावहारिक हैं तथा लोकाचार से सम्बन्धित हैं। परन्तु आन्तरिक उद्देश्य कुछ दूसरा ही था। उद्धव ब्रज पहुंचकर पहले नन्द-यशोदा के सम्मुख ईश्वर के रूप की व्याख्या करते हुए उसके निराकार स्वरूप की स्थापना करते हैं और अन्त में कहते हैं कि-साधुओं की रक्षा और केवल क्रीडा के लिये ही वे उत्तम, अधम और मिश्र योनियों में शरीर धारण करते हैं। परन्तु दार्शनिक दृष्टि से कृष्ण निराकार-ही रहते हैं।

इसके उपरान्त गोपी-उद्धव-सम्वाद आरम्भ हो जाता है। गोपियाँ कृष्ण की कुशल-क्षेम पूछकर उद्धव को कृष्ण की निष्ठुरता के सम्बन्ध में उपालम्भ देती हुई वेदना से व्याकुल हो, रो पड़ती है। इतने में ही एक भ्रमर आकर एक गोपी के चरणों के पास गुजार करता हुआ मँडराने लगता है। बस, गोपी उस भ्रमर को लक्ष्य कर पुरुष द्वारा प्रेम के क्षेत्र के लिए गए विश्वासघात की भर्त्सना करना आरम्भ कर देती है। वह कहती है-

विसृज शिरसि पाद वेदम्यह चाटुकारै,  
रनुतय विदुषस्तेऽभ्येत्य दौत्ययैर्मुकुन्दात् ।।  
स्वकृत इह विसृष्टापत्यपत्यण्ड लोका ।।  
व्यसृजद कृत चेता किं न संघेयमस्मिन् ?

अर्थात्-हे भ्रमर ! तू मेरे चरणों पर से अपना सिर हटा ले। मैं जानती हूँ कि तू (यह क्रिया) कृष्ण से सीखकर आया है और चाटुकार-वृत्ति द्वारा खुशामद करने में अत्यन्त निपुण है। किन्तु जिस अकृतज्ञ ने हम अबलाओं को, जिन्होंने उसके लिये अपने पति, पुत्र तथा समस्त लोग को त्याग दिया था, इस प्रकार त्याग दिया, क्या फिर भी उसका

विश्वास किया जा सकता है ? वह गोपी पुनः कहती है— 'हे धूर्त के बन्धु मधुकर ! तुम हमारे चरण मत छुओ, तुम्हारी मूँदों से सौत के वक्षस्थल पर विहार करने वाली माला का कुकुम लगा है। मधुपति कृष्ण ही यादवों की सभा में उपहास कराने वाले इस प्रसाद को धारण करें, हम इसे नहीं चाहतीं। तुम्हारी और कृष्ण की बन्धुता ठीक है, क्योंकि जैसे तुम सुमनों का रस लेकर उन्हें छोड़ जाते हो, वैसे ही कृष्ण हमें एक बार अपनी मोहिनी—सुधा पिलाकर एकाएक छोड़कर चले गये।

भागवत के उद्धव यह सुनते ही सूर के उद्धव के समान गोपियों को ज्ञान और निर्गुण का उपदेश देना आरम्भ नहीं कर देते और न यही कहते हैं कि गोपियाँ कृष्ण से प्रेम कर गलती कर रही हैं। इसके विपरीत, गोपियों की इस दृढ़ भक्ति को देखकर उद्धव का मस्तिष्क गोपियों के प्रति श्रद्धा से नत हो जाता है और वे उनकी प्रशंसा करते हुए कह उठते हैं—अहो ! यूयं स्म पूर्णार्थी भवत्यो लोक पूजितः' अर्थात्:—हे गोपियों ! 'तुम कृतार्थ हो, तुम लोक पूजनीय हो।' क्योंकि—'वासुदेव भगवति षासामित्यर्पित मनः' अर्थात्—'तुम्हारा मन वासुदेव में इस प्रकार लवलीन है।'

आगे चलकर उद्धव गोपियों की इस एकान्तिक भक्ति—भावना की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते हुए पुनः कहते हैं—'कृष्ण की भक्ति, दान, व्रत, होम, जप, स्वाध्याय, इन्द्रियदमन तथा अन्य जग—कल्याणकारक कर्मों द्वारा ही प्राप्त की जाती है। किन्तु तुमने तो सौभाग्य से मुनिजनों के लिये भी परमदुर्लभ भगवान कृष्ण की उत्तम लक्षणाभक्ति प्राप्त करके उसका विस्तार किया है ! तुमने अपने स्वजनों को त्याग कर परम पुरुष भगवान कृष्ण का वरण किया है, यह बड़े सौभाग्य की बात है।'

भागवत के उपर्युक्त से यह सिद्ध हो जाता है कि भागवतकार का उद्देश्य भ्रमरगीत

की रचना में ज्ञान व भक्ति का द्वन्द्व दिखाने का नहीं था। वहाँ तो ज्ञान, कर्म एवं भक्ति के सामंजस्य स्थापित करने के प्रयत्न लक्षित होता है। भागवतकार के अनुसार कृष्ण का ब्रज त्यागना गोपियों के प्रेम की दृढ़ता को और भी गहन एवं गम्भीर बनाने के निमित्त था। वे जान—बूझकर मथुरा गये थे। उद्धव कृष्ण के इसी सन्देश को गोपियों के समक्ष प्रस्तुत करते हैं— "हे गोपियों ! तुम्हारे नेत्रों का तारा होकर भी जो मैं तुमसे दूर चला आया हूँ, उसका उद्देश्य यही है कि तुम निरन्तर मेरा ध्यान करती रहो। शरीर दूर रहने पर भी तुम्हारा मन मेरे ही पास रहे, क्योंकि स्त्रियों एवं प्रेमियों का मन जिस दृढ़ता एवं एकाग्रता के साथ परदेश गये हुए प्रियतम में रमा रहता है, वैसा आँखों के सामने रहने पर नहीं रहता।"

इससे तो यही स्पष्ट होता है कि कृष्ण गोपियों को एकान्तिक—भक्ति की 'चित्त साधना' सिखाना चाहते थे और इसी उद्देश्य की प्रतीति के लिये मथुरा चले गये थे। ईश्वर से प्रेम की बात तो सूर भी कहते हैं, परन्तु वहाँ निर्गुण—सगुण एवं कृच्छ—साधना तथा ज्ञान और भक्ति का भयंकर परन्तु रोचक विवाद उठ खड़ा होता है, जिसमें काव्य—चमत्कार एवं सरसता की पर्याप्त सृष्टि हुई है। संक्षेप में, भागवतकार एवं सूर का मूल उद्देश्य एक ही ज्ञात होता है, परन्तु इस उद्देश्य को प्राप्त करने के मार्ग दोनों के भिन्न—भिन्न रहे हैं और यही भिन्नता सूर की मौलिकता का प्रमाण है।

सूर के उद्धव भागवतकार के उद्धव से बहुत भिन्न है। भागवतकार के उद्धव कृष्ण के प्रिय सखा, साक्षात् वृहस्पति के शिष्य, महामतिमान तथा वृष्णिवंशीय यादवों के मान्य मन्त्री हैं। इसके विपरीत सूर के उद्धव भक्ति—मार्ग के विरोधी, अद्वैतवादी एवं अहंकारी ज्ञानमार्गी हैं। कृष्ण उनके इसी अहंकार को भंग करने के लिये

तथा प्रेम-भक्ति की महत्ता समझाने के लिये उन्हें गोपियों के पास भेजते हैं।

सूर की इस भिन्नता एवं मौलिकता की पृष्ठभूमि में सूरकालीन व ऐतिहासिक परिस्थितियाँ कार्य कर रही थीं—जो सम्भवतः भागवत की रचना के समय नहीं थी। अद्वैतवादी शंकर के उपरान्त वाममार्गियों, तथाकथित योगियों—नाथ—पंथियों कापालिकों, अघोरियों—आदि के ऐसे सम्प्रदाय उठ खड़े हुए थे जो योगमार्गी कृच्छ साधनाओं द्वारा ब्रह्म—प्राप्ति का उपदेश देते फिरते थे। पंचमकारों की उपासना ने इनकी साधना—पद्धति को अत्यन्त विकृत एवं गर्हित रूप प्रदान कर दिया था। सूर के समय में इनका समाज में प्राबल्य था और यदि इनका विरोध न किया जाता तो सम्पूर्ण भारतीय समाज दुराचार एवं अनैतिकता के गर्त में समा जाता। ऐसी स्थिति से समाज की रक्षा करने के लिये हमारे भक्त—कवि उद्धारक के रूप में सामने आये थे। तुलसी तथा सूर ने इसी कारण इन योगमार्गियों का घोर विरोध कर सगुण भक्ति का प्रचार किया था। अतः भागवतकार की मौलिक स्थापनाओं तथा सूर की उपासना—पद्धति में कोई मूलभूत अन्तर न होकर केवल पद्धतियों का अन्तर था।

डा० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने भागवतकार के भ्रमरगीत प्रसंग की विवेचना करते हुए भागवतकार की एक अन्य उपलब्धि का भी उल्लेख किया है, जो उनकी मौलिक स्थापना प्रतीत होती है। डा० उपाध्याय का मत है कि भागवतकार का यह उद्देश्य भी था कि—“उपेक्षित निम्न जाति की नारियों के भागवत प्रेम को भी किसी प्रकार धर्म के ठेकेदार स्वीकार कर लें।” अपने इस मत के समर्थन में डा० उपाध्याय ने उद्धव का यह वक्तव्य उद्धृत किया है—

**क्वैमाः स्त्रियो वनचरीर्व्यभिचार दृष्टाः।  
कृष्ण क्व चष परमात्मनि रूढ भावः।**

**नन्दीश्वोऽनुभतोऽविदुषोऽपि**

**साक्षा—**

**च्छैयस्तनौत्यगदरा इवोपयुक्तः।**

अर्थात्— “कहाँ तो ये व्यभिचारदूषिता वनवासिनी स्त्रियाँ ! और कहाँ इनका परमात्मा में इतना सुदृढ़ अनुराग ! इससे सिद्ध होता है कि यदि अज्ञानी भी भगवान का भजन करते हैं, तो भगवान उनका भी परम कल्याण करते हैं : जैसे अमृत, बिना जाने पीने से भी अमर बना देता है।

सम्भवतः सूर आदि ने कुब्जा—प्रसंग को जो इतना महत्व दिया है, उसके मूल में भी निम्न जातीय नारियों के प्रति यही उदारता की भावना कार्य कर रही थी।

हम ऊपर ‘भ्रमरगीत’ का संक्षिप्त परिचय, उसका अभिप्राय, उद्देश्य, भागवतकार एवं सूर आदि के दृष्टिकोणों का विवेचन कर आए हैं। अब हम आरम्भ से लेकर आधुनिक काल तक के भ्रमरगीत—प्रसंगों का संक्षिप्त इतिहास एवं उनका विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

‘भ्रमरगीत’ का उद्गम—स्थान श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के 46वें तथा 47वें अध्यायों को माना जाता है। 46वें अध्याय में उद्धव की ब्रज—यात्रा और उनका नन्द—यशोदा के साथ वार्तालाप है। 47वें अध्याय में गोपियों और उद्धव का कथोपकथन है यह कथोपकथन 47वें अध्याय के 12 से लेकर 21 तक के 10 श्लोकों में समाप्त हो गया है। यह तो हुई संस्कृत—साहित्य की बात। हिन्दी में ‘भ्रमरगीत’ के सर्वप्रथम एक सर्वश्रेष्ठ कवि सूरदास हुए हैं। इसलिये हिन्दी में इस परम्परा का विकास सूरदास के ‘भ्रमरगीत’ से ही मानना पड़ेगा। सूर प्रणीत ‘सूरसागर’ में तीन ‘भ्रमरगीत’ मिलते हैं, जिनमें से प्रथम दो अत्यन्त संक्षिप्त हैं तथा अन्तिम विस्तृत है। प्रथम ‘भ्रमरगीत’ भागवत का अनुवाद मात्र प्रतीत होता है। यह चौपाई छन्द में लिखा गया है। इससे केवल यही ज्ञात होता है कि सूर का दृष्टिकोण भागवतकार के दृष्टिकोण से तनिक भिन्न था।

दूसरा भ्रमरगीत पदों में रचा गया है। प्रथम तथा इस द्वितीय 'भ्रमरगीत' में भ्रमर के आने का उल्लेख स्पष्ट रूप से नहीं किया गया है। तीसरा 'भ्रमरगीत' अत्यन्त विस्तृत है। इसमें लगभग 800 पद हैं और काव्यत्व की दृष्टि से यह हिन्दी की अद्वितीय रचना मानी जाती है। इस 'भ्रमरगीत' में पहली बार सूर के भक्ति-विषयक विचार स्पष्ट होते हैं। सूर-रचित संक्षिप्त 'भ्रमरगीत' में वर्णित गोपियों में, नन्ददास की गोपियों के समान तर्क का आवेश अधिक है, परन्तु विस्तृत 'भ्रमरगीत' में सूर ने तर्कों को अप्रत्यक्ष रूप से ही अधिक व्यक्त किया है, यद्यपि तर्क है अपने परिवेश और उत्साह के साथ ही।

सूर के कृष्ण उद्धव को ब्रज इसलिए भेजते हैं कि ज्ञानमार्गी उद्धव गोपियों की अनन्य भक्ति को देखकर अपने ज्ञानमार्ग की निस्सारता का ज्ञान प्राप्त कर सकें और इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से ज्ञान पर भक्ति की विजय दिखाई जा सके। सूर को निम्न पद इस स्पष्ट उद्देश्य के प्रमाण में द्रष्टव्य है—

जदुपति जानि उद्धव रीति ।  
विरह दुख जहँ नाहिँ जानत नाहिँ उपजत प्रेम ।  
रेख रूप न वरन जाके यह धर्यो वह नेम ॥  
त्रिगुण तन कर लखत हमकों, ब्रह्म मानत और ।  
विरह रस के मन्त्र कहिए, क्यों चलै संसार ॥  
कछु कहत यह एक प्रगटत, अति मर्यो हंकार ।  
प्रेम भजन न नेकु जाके, जाय क्यों समुझाय ॥  
सूर प्रभु मन यहै आनी, ब्रजहिँ देहु पठाय ।

गुणहीन ब्रह्म केवल भावना की उपज है, अर्थात् वह जनता के किसी काम नहीं आ सकता। हमारे क्रियाशील जीवन से उसकी कोई उपयोगिता नहीं रह जाती। इसी तथ्य की पुष्टि और स्पष्टीकरण के लिए सूर ने 'भ्रमरगीत' की रचना की थी।

## ज्ञान-मार्ग का विरोध

ज्ञान-वर्ग में डूबे हुए उद्धव तुरन्त ब्रज को चल देते हैं और वहाँ पहुँच कर गोपियों को उपदेश देते हुये भक्ति की हीनता का बखान करने लगते हैं। अपने प्रियतम कृष्ण की एकांतिक-भक्ति की उपासिका गोपियों को उद्धव का यह उपदेश जहर-बुझे तीर के समान लगता है। वे विरह-व्यथा से और भी अधिक व्याकुल हो जाती हैं, और फिर सम्हल कर जो उद्धव के ज्ञान-मार्ग पर अपनी सरल एवं भोली-भाली परन्तु सशक्त, उक्तियों से आक्रमण करने लगती हैं, तो उद्धव अपने उपदेश को भूल किंकर्तव्यविमूढ़ हो उठते हैं।

गोपियाँ उद्धव के तर्कों को काटती हुई मीठी चुटकियाँ लेती हैं —

उद्धव जोग बिसरि जनि जाहु ।

बाँधउ गाँठि कहुँ जनि छूटे, फिर पाछे पछिताहु ॥

यह तुम्हारा योग तो—“ब्रजवासिनी के नाहिँ काम कौ”—क्योंकि तुम्हारे इस ब्रह्म का कुछ अता-पता तो है ही नहीं—

“निर्गुन कौन देस की बासी ।

मधुकर हँसि समुझाउ, सौँह दे बूझत, साँच न  
हाँसी ॥”

न इस ब्रह्म के माँ-बाप का पता है, न इसकी पत्नी का नाम मालूम है, न इसकी वेष-भूषा का कुछ अता-पता है—

“को है जनक, जननि को कहियत, कौन नारि को  
दासी ।

कैसो वरन, भेष है कैसो, केहि रस में  
अभिलाषी ॥”

उद्धव ज्ञापनमार्गी हैं, अतः उनके पास गोपियों के इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं है। इसलिए उद्धव

निरुत्तर रह जाते हैं, परन्तु गोपियाँ फिर भी उनका पीछा नहीं छोड़तीं। वे व्यंग कसती चली जाती है और व्यंग्यों की यह शृखंला सैकड़ों पदों में अबाध गति से चलती रहती है। गोपियाँ कृष्ण के बदले 'योग' का सौदा नहीं करना चाहती, क्योंकि उनकी दृष्टि में योग 'फाटक' (निस्सार वस्तु) और कृष्ण 'हाटक' (स्वर्ण) के समान है, फिर इन दोनों में विनियम हो तो कैसे हो ? इसलिए वे उद्धव से प्रार्थना करती है—

“ऊधौजी हमहिं न जोग सिखैये ।  
जेहि उपदेश मिलैं हरि हमकों, सो ब्रत नैम  
बतैये ॥”

क्योंकि—

“अँखियाँ हरि दरसन की भूखी ।”

इसलिए—

“कैसे रहैं रूपरस राँची, ये बतियाँ सुनि रुखी ।”

और यदि इन आँखों की ही एकमात्र समस्या होती तो भी कोई बात नहीं थी, परन्तु यहां तो मन ही विद्रोह कर रहा है। हमारे पास एक ही तो मन था, उसे भी श्याम रथ पर चढ़ाकर अपने साथ मथुरा ले गए—

“ऊधौ मन नाही दस बीस !  
एक हुतौ सौ गयो स्याम संग, को आराधै ईस ।”

परन्तु बात यही तक सीमित नहीं है। सम्भव है, तुम्हारा ज्ञानयोग बहुत अच्छी चीज हो, उसमें तत्व—ही—तत्व भरा हो, परन्तु हम क्या करें ? हम तो निपट गँवारिन है, कुछ पल्ले ही नहीं पड़ता कि तुम क्या समझाना चाहते हो। तुम्हारी यह ज्ञान की बातें नगर की नागरिकाएँ ही समझ सकेंगी—इसलिए बाबा, इसे वहीं ले जाकर उन्हें ही समझाओ—

“ऊधौ ब्रज की दशा विचारौ ।  
ता पाछै यह ज्ञान आपनो, जोग कथा विस्तारौ ॥”

अपनी ज्ञान कथा यह ऊधौ, मथुरा ही लै जाव ।  
नागरि नारि नीके समझैंगी, तुम्हरो बचन बनाव ॥”

मगर उद्धव फिर भी नहीं मानते। उनका ज्ञान—चरखा पुनः चालू हो जाता है। इस पर गोपियाँ क्रुद्ध हो उठती है और उन्हें कड़ी फटकार बताती है वे उनके भक्त—रूपी राजमार्ग को अपने ज्ञानरूपी (निर्गुण) कंटको से क्यों रोते हैं —

“काहे कौं रोकत मारग सूधौ ।  
सुनहु मधुप, निर्गुण कंटक ते राजपथ क्यों रूँधौ ॥”

गोपियाँ तो अपने प्रियतम कृष्ण की त्रिभंगी छवि पर निछावर है। उनके सम्मुख रूप रेख गुन जाति हीन यह निर्गुण क्या महत्व रख सकता है—क्योंकि यह उनके किसी भी काम नहीं आ सकता। इसलिए वे उद्धव से पूछती हैं—

“रेख न वरन रूप नहिं जाके, ताको हमें बतावत ।  
अपनी कहौ दरस ऐसे कौ, तुम कबहुँ हौ पावत ॥”

मुरली अधर धरत है सो पुनि, गोधन बन—बन  
चारत ।

नैन विसाल भौह बंक करि, देख्यौ कबहुँ  
निहारत ॥

तन त्रिभंग करि, नटवर बपु धरि, पीताम्बर तेहि  
सोहत ।

सूर स्याम जो देह हमैं सुख त्यों तुमको सोउ  
मोहत ॥”

अन्त में उद्धव गोपियों की इन भोली—भाली उक्तियों के सम्मुख परास्त हो जाते हैं और अपने ज्ञान को भूल कृष्ण के गुण गाने लगते हैं।

सूर का उद्देश्य सिद्ध हो जाता है। ज्ञान पर भक्ति की, मस्तिष्क पर हृदय की, निर्गुण पर सगुण की, विजय हो जाती है और यही सूर चाहते भी थे।

सूर प्रणीत 'भ्रमरगीत' की इतने विस्तार के साथ, उद्धरण देते हुये, व्याख्या करने की आवश्यकता इसलिए प्रतीत हुई—क्योंकि अष्टछजन के अन्य कवियों तथा परवर्ती अधिकांश भ्रमरगीतकारों ने इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिये अपने-अपने भ्रमरगीतों की रचना की थी। इसलिए आगे केवल उनकी विशेषताओं का उल्लेख करते हुए ही इस परम्परा का विकास देखना पड़ेगा।

'अष्टछाप' के लगभग अन्य सभी कवियों ने किसी-न-किसी रूप से 'भ्रमरगीत' प्रसंग को लेकर रचनाएँ की हैं। आराध्य के प्रति प्रेम की तीव्रता दिखाने का यही एकमात्र एवं सशक्त माध्यम मुक्तक-काव्य के लिये उपयुक्त हो सकता था। 'अष्टछाप' के अन्य कवियों की इस प्रसंग से सम्बन्धित रचनाओं में नन्ददास का 'भँवरगीत' सर्वाधिक उल्लेखनीय है। नन्ददास का 'भँवरगीत' इस प्रसंग की उस न्यूनता का पूरक है, जिसे सूर की कमजोरी कहा गया है। सूर की गोपियाँ जो तर्क उपस्थित करती हैं, वे प्रतिपक्षी की विचार-पद्धति की 'अव्यावहारिकता' पर ही प्रहार करते हैं और ये तर्कशास्त्र-सम्मत नहीं हैं, अतः बुद्धिवादियों को उनसे पूर्ण सन्तोष नहीं हो पाता है। नन्ददास की 'भँवरगीत' इस कमी को दूर कर देता है। इसलिए उसे सूर के 'भ्रमरगीत' के 'बुद्धिपक्ष' की इसी न्यूनता का पूरक माना गया है।

नन्ददास की गोपियों का बौद्धिक-स्तर सूर की गोपियों के बौद्धिक-स्तर से बहुत ऊँचा है। इसी कारण उनके तर्क सूक्ष्म एवं शास्त्रीय-सिद्धान्तों पर आधारित रहे हैं। वे प्रेम के साथ-साथ तर्क और प्रमाण का आधार अपनाकर चलती हैं। नन्ददास अपनी गोपियों के इसी तार्किक-स्तर को शास्त्र-प्रमाणित दिखाकर उद्धव के ज्ञानमार्ग का शास्त्रीय-दृष्टिकोण से खण्डन करना चाहते हैं। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि उनकी गोपियाँ भाव-प्रवण नहीं हैं।

नन्ददास के भँवरगीत का आधार भाग उद्धव-गोपी-सम्वाद का है तथा अन्तिम आधा भाग गोपियों की विरह-दशा का चित्रण करता है। प्रथम भाग में कवि बुद्धिवादी है और अन्तिम भाग में सूर के ही समान उसमें भावुकता का प्राधान्य रहता है। कतिपय उदाहरणों द्वारा नन्ददास के 'भँवरगीत' की विशेषताओं का प्रदर्शन उचित होगा।

नन्ददास के उद्धव योगाभ्यास द्वारा ब्रह्म-प्राप्ति का उपदेश देते हुए अपने ब्रह्म की व्याख्या करते हैं—

**"यह सब सगुण उपाधि, रूप निर्गुण है उनको।**

**निरविकार निरलेप, लगति नहीं तीनों गुण को।।**

**हाथ न, पाँव न नासिका, नैन बैन नहीं कान।**

**अच्युत ज्योति प्रकाश है, सकल विस्व के प्रान।।"**

गोपियाँ तुरन्त उत्तर देती हैं—

**"जो मुख नाहिन हुतौ, कहौ किन माखन खायौ।**

**पाँयन बिन गो संग, कहौ बन-बन को धायौ !"**

अतः तुम्हारा यह निर्गुण झूठा है। सच्चा तो हमारा है —

**"नन्द यशोदा पूत है, कुँवर कान्ह ब्रजनाथ।"**

उद्धव का तर्क आगे बढ़ता है। वे भगवान को निर्गुण बताते हुए कहते हैं— "जो उनके गुण होंय, वेद क्यों नेति बखानै", तो तुरन्त ही पूछ बैठती हैं— "जो उनके गुण नाय और गुण भए कहाँ ते।" जब उद्धव ब्रह्म को अलक्ष्य और गुणातीत बताते हैं, तो गोपियाँ तुरन्त उत्तर देती हैं— "जिनको वे आँखें नहीं, देखें कब वह रूप।" नन्ददास की गोपियाँ परिहास-प्रिय भी हैं। मजाक-ही-मजाक में वे उद्धव की ज्ञान-गठरी विलीन कर देती हैं। इसके साथ ही वे उद्धव की खूब भर्त्सना भी करती हैं—

**“यह नीची पदवी हुती, गोपीनाथ कहाय ।**

**अब जदुकुल पावन भयौ, दासी जूठन खाय ।”**

परन्तु इस तर्क-वितर्क में गोपियों के सम्मुख सहसा उनके प्रियतम की मधुर मूर्ति आ खड़ी होती है और वे सारे तर्कों को भूल, प्रियतम की मधुर स्मृति में भाव-विभोर हो उठती है। उनका सारा तर्क समाप्त हो जाता है, और-

**“ता पाछे इक बार ही रोई सकल ब्रजनारि ।**

**हा ! करुणामय नाथ हो केसव कृष्ण मुरारि,  
फाटि हियरौ चल्यो !”**

और इसके उपरान्त ‘भँवरगीत’ का भावात्मक स्थल आरम्भ होता है, जिसमें कृष्ण की निष्ठुरता के प्रति उपात्म तथा गोपियों की अपनी परवशता, दीनता, विनय और कह उठते हैं-

**“जो ऐसे मरजाद मेंटि-मोहन कौ ध्यावैं,**

**क्यों नहिं परमानन्द प्रेम-पद पी को पावैं ।**

**ज्ञान योग सब कर्म हैं, प्रेम परे हैं साँच,**

**हौं यह पटतर देत हौं, हीरा आगे काँच,**

**विषमता बुद्धि की ।”**

इस प्रकार तर्क-वितर्क की मनोहर छटा दिखाकर अन्त में नन्ददास भी सूर के ही स्वर में बोल उठते हैं, क्योंकि ज्ञान का सम्बन्ध बुद्धि से हैं, और भक्ति का प्रधानतः हृदय से। केवल बुद्धि के द्वारा भक्ति की श्रेष्ठता प्रदर्शित करना असम्भव था, इसलिए नन्ददास को भी अन्त में भावुकता का ही आश्रय लेना पड़ा-क्योंकि वे स्वयं भावुक भक्त थे और भक्ति के क्षेत्र में तर्क के लिये कोई स्थान नहीं रहता।

अन्य कृष्ण भक्त कवियों में परमानन्ददास, कृष्णदास अधिकारी, चतुर्भुजदास, कुम्भनदास, गोविन्द स्वामी, छीतस्वामी आदि ने भी भ्रमरगीत-प्रसंग को लेकर विभिन्न छन्दों में रचनाएँ की हैं। इस सब का सार भी वही रहा है

जो सूर की नन्ददास का था-वही, ज्ञान पर भक्ति की छाप। सभी ने गोपियों के विरह-वर्णन को प्रमुखता दी है। परन्तु नन्ददास की-सी तर्क-पद्धति इनमें से किसी में भी नहीं मिलती। उनमें सर्वत्र भावुकता का ही प्राधान्य रहा है। नन्ददास ने तर्क के आधार पर अपने तर्कों को शास्त्रीय मतों से पुष्ट करते हुए, ज्ञान से भक्ति को श्रेष्ठ दिखलाया है। इसे ही उनकी सबसे बड़ी विशेषता और उपलब्धि माना जा सकता है। काव्य-कला की दृष्टि से भी नन्ददास का ‘भँवरगीत’ एक उल्लेखनीय और महत्वपूर्ण कृति है।

नन्ददास के उपरान्त उल्लेखनीय भ्रमरगीत-प्रसंग ‘रामचरितमानस’ के प्रणेता गोस्वामी तुलसीदास का मिलता है। ‘कृष्ण गीतावली’ में इस प्रसंग से सम्बन्धित अनेक पद मिलते हैं, जिनमें ‘भ्रमर’ का स्पष्ट उल्लेख न होकर-उद्धव के लिये ‘मधुकर’, ‘मधुप’ आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। सूर की भक्ति सख्यभाव की थी, इसलिए उनकी गोपियाँ अनेक स्थलों पर लोक-मर्यादा का उल्लंघन कर बैठती हैं। परन्तु तुलसी दास्यभाव की भक्ति में विश्वास करने वाले थे, इसलिए उनके ‘भ्रमरगीत’ में सर्वत्र मर्यादा का पालन हुआ मिलता है। उनकी गोपियाँ उद्धव के ज्ञान का खण्डन करती अवश्य हैं, परन्तु इस खण्डन में न तो सूर की गोपियाँ की सी प्रगल्भता एवं अखण्डता है और न नन्ददास की सी तर्क-प्रियता। इसके विपरीत, यहाँ सर्वत्र अतिशय दीनता और उदारता का रुख अपनाया गया है। चतुर्वेदी की गोपियों में सर्वत्र झिझक एवं लज्जा के दर्शन होते हैं। वे सरल एवं शिवासमयी भक्त नारियाँ हैं, परन्तु अपने सिद्धान्त एवं विश्वास के प्रति उनमें सर्वत्र एक दृढ़ आस्था के दर्शन होते हैं। वे अपने प्रियतम को प्राप्त करना चाहती हैं-योग, मुक्ति, आदि को वे उसी पर निष्ठावर करने को प्रस्तुत है-



**“वह अति ललित मनोहर आनन, कौनै जतन  
बिसारौं।**

**जोग जगुति अरु मुकुति विविध विधि, वा मुरली  
पर बारौं।।”**

ईर्ष्या एवं अभिलाषा की भावना इनमें नाममात्र की है। इस विरह-वर्णन में न तो दसों विरह-दशाओं का चित्रण हुआ है, और न प्रकृति अथवा दाम्पत्य-जीवन की स्मृतियाँ ही गोपियों को विरह-दग्ध करती हैं। संक्षेप में, चक्र के ‘भ्रमरगीत’ में गोपियों की भावुकता, दीनता, विनयशीलता, शालीनता आदि के ही दर्शन होते हैं।

भक्त कवियों में से हरिराय, रसखान, मुकुन्ददास, घासीराम, मलूकदास आदि ने भी इस प्रसंग को लेकर पद लिखे हैं, परन्तु इनमें सूर का ही पिष्टपेषण मात्र मिलता है।

इसके उपरान्त रीतिकालीन-कवियों का युग आता है। इन कवियों ने जिस प्रकार राधाकृष्ण को अपनी श्रृंगारिक उक्तियों का माध्यम बनाया था, उसी प्रकार इन्होंने भ्रमरगीत-प्रसंग को लेकर उसकी छीछालेदर की है। उनकी रचनाओं में यह प्रसंग ‘नायिका-भेद’ तथा ‘अन्य संचारी’ के चक्कर में पड़कर अपना सौन्दर्य एवं विशिष्टता खो बैठा है। केवल ‘मधुप’ अथवा ‘मधुकर’ जैसे शब्दों के प्रयोग को देखकर ही इनकी गणना इस प्रसंग में करनी पड़ रही है, अन्यथा इनमें उक्ति-चमत्कार के अतिरिक्त और कुछ भी मिलता। ‘भ्रमरगीत’ के मूल स्वर की इनमें कहीं भी ध्वनि नहीं मिलती। इन रीतिकालीन-कवियों में भावुक कवि भी हैं, जैसे-रहीम, घनानन्द आदि। कुछ अलंकारवादी कवियों ने भी इस प्रसंग के प्रति अपनी रुचि प्रदर्शित की है, जैसे-मतिराम, देव आदि। कुछ ऐसे कवि भी इस काल में मिलते हैं जिन पर रीतिकालीन प्रभाव होते हुए भी सूर और नन्ददास की भक्ति-परम्परा का प्रभाव भी उसी मात्रा में है।

इन्हें समन्वयवादी कहा जा सकता है। इनमें चाचा हितवृन्दावनदास, ब्रज-निधि, रास नायक आदि की गणना की जा सकती है। अलंकारवादियों में पद्माकर एवं सेनापति का नाम भी उल्लेखनीय है।

उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त इस काल में अक्षर अनन्य, वरकतउल्ला, प्रेमी, आलम, नागरीदास, ब्रजवासी आदि अनेक अन्य कवि ऐसे हुए हैं, जिनके काव्य में इधर-उधर बिखरे हुए भ्रमरगीत-सम्बन्धी पद मिल जाते हैं। रीतिकालीन इन कवियों में उक्ति-वैचित्र्य है, प्रसंगो की नवीन उद्भावनाएँ हैं- परन्तु भक्ति की कथा विरह-दग्ध और विरह-कातर हृदय की वह गहनता और तल्लीनता नहीं मिलती जो सूर के भ्रमरगीत-प्रसंग के सैकड़ों पदों को एक साँस में पढ़ने या सुनने के लिये बाध्य कर देती है। इन लोगों ने भी लकीर तो वही पीटी है-ज्ञान पर भक्ति की विजय-परन्तु वह विभोर नहीं कर पाते, अपनी नवीनता के कारण प्रभावित भले ही कर लें। स्थानाभाव के कारण उक्त कवियों की रचनाओं का सविस्तार विवरण देना असम्भव है, इसलिए उनकी संक्षिप्त विवेचना ही यथेष्ट प्रतीत होती है।

रीतिकाल के उपरान्त हम आधुनिक युग में आते हैं। इस युग तक आते-आते परिस्थितियाँ बदल चुकी थीं। पराधीनता के प्रति विद्रोह का स्वर साहित्य में मुखरित होने लगा था। साहित्य राज-दरबारों को त्याग कर जनता में दुःख-दर्द के गीत बाने लगा था। इसलिए इस काल में रचित भ्रमरगीतों का स्वर भी बदल गया। अब कवियों के सामने ज्ञान और भक्ति के द्वन्द की समस्या नहीं थी। नया युग उन्हें पुकार रहा था, इसलिए अब राधा, कृष्ण और गोपियाँ देशभक्त और जनसेवक का रूप धारण कर सामने आए। इन पर भक्तिकालीन तथा रीतिकालीन भावनाओं का प्रभाव था अवश्य, परन्तु संयमित रूप में। आधुनिक-युग के नेता के रूप में सर्वप्रथम

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आते हैं। उन्होंने भ्रमरगीत-प्रसंग को लेकर अनेक फुटकर पद लिखे हैं—जिनका स्वर प्रधानतः भक्तिकालीन ही रहा है। वही निर्गुण-सगुण का पुराना झगड़ा और अन्त में गोपियों द्वारा आत्मसमर्पण या उद्धव का हृदय-परिवर्तन। इसमें उक्ति की नवीनता के अतिरिक्त एक भी अन्य विशेषता नहीं मिलती। फिर भी भारतेन्दु ने औरों की अपेक्षा इस प्रसंग को अधिक सहानुभूति तथा प्रेम के साथ उठाया तथा निभाया है। बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने इसी परम्परा के कुछ पद लिखे हैं, परन्तु वे भी विशेष उल्लेखनीय नहीं हैं।

### सत्यनारायण कविरत्न : भारत की दीन-दशा के चितेरे

इस युग में 'भ्रमरगीत' का नवीन एवं परिवर्तित रूप से सर्वप्रथम सत्यनारायण 'कविरत्न' में मिलता है। कदाचित् समस्त भ्रमरगीत-परम्परा में 'कविरत्न' का 'भ्रमरदूत' ही एक ऐसी रचना है जो प्राचीन एवं रुढ़ निर्गुण-सगुण ज्ञान-भक्ति की समस्या को न उठाकर अपने समय की विषम परिस्थितियों का चित्रण करता है और इस प्रकार एक नवीन दृष्टिकोण उपस्थित करता है, जिसका आगे अनुकरण नहीं हो सका।

'कविरत्न' अपने 'भ्रमरदूत' में कई नवीनताओं का समावेश करते हैं। यहाँ सन्देश मथुरा से गोकुल को न जाकर, गोकुल से मथुरा को जाता है और इसको भेजने वाली कोई गोपी न होकर—स्वयं यशोदा माता है। इस प्रसंग की सबसे बड़ी विचित्रता यह है कि—यह सन्देश कृष्ण स्वयं भ्रमर का रूप धारण कर ले जाते हैं। एक बार हिंडोलों के उत्सव पर माता यशोदा पुत्र-वियोग में व्याकुल हो उठती है। कृष्ण अपनी माता को दुःखी देखकर स्वयं भ्रमर का रूप धारण कर पास आ जाते हैं—

“विलपति कलपति अति जबै, लखी जननि जिन  
स्यामा।

भगत-भगत आये तबै-भाए मन अभिराम।।

भ्रमर के रूप में।।”

माता यशोदा इस भ्रमर तथा अपने श्याम में अनेक प्रकार का सादृश्य पाकर उसी के द्वारा अपना सन्देश भेजती है— “तेरो तन घनश्याम, श्याम घनश्याम उतै सुन।” इस सन्देश में माता अपने व्यक्तिगत सुख-दुःख का वर्णन नहीं करती, अपितु स्वयं भारत-माता का स्वरूप धारण कर अपने देश की राजनीति, सामाजिक और आर्थिक समस्याओं का मार्मिक वर्णन करती है। यहाँ आधुनिक सभ्यता का अभिशाप, विदेशों में गए प्रवासी भारतीय मजदूरों की समस्या, स्त्री-शिक्षा, स्त्रियों पर फैशन का प्रभाव, भारतीयों की दुर्दशा आदि के बड़ मार्मिक चित्र प्रस्तुत किये गए हैं। यह एक नवीनता थी जो इससे पूर्व कहीं भी नहीं मिलती। इस सम्पूर्ण वर्णन में भाव-सौन्दर्य के साथ-साथ, भाषा में संगीत एवं सौन्दर्य का पर्याप्त संतुलन मिलता है। इसे उपालम्भ-काव्य नहीं माना जा सकता। फिर भी इस प्रसंग में भ्रमर का समावेश होने तथा उसी के माध्यम से सारी बातें कही जाने के कारण इसे भ्रमरगीत-परम्परा की ही एक कड़ी माना जायेगा। यहाँ केवल विषय में परिवर्तन हुआ है, वेदना के मूल-स्वर में नहीं। यहाँ गोपियों की वेदना सम्पूर्ण देश की वेदना का रूप धारण कर माता यशोदा की वेदना के माध्यम से अत्यन्त व्यापक बन जाती है।

### हरिऔध : लोक-सेवाभाव्य का प्राधान्य

'हरिऔध' के 'भ्रमरगीत' का स्वरूप भी इसी प्रकार की नवीनता लिए हुए है। यहाँ आकर कृष्ण का माखन चुराने वाला तथा प्रेमी रूप-एक समाज-सुधाकर का रूप धारण कर लेता है। वियोग की भावनाओं में भी अन्तर आ जाता है।

यहाँ गोपियाँ कृष्ण के केवल उन लोकोपकारी कार्यों को याद करती हैं, जो कृष्ण ने अपने ब्रज-निवासकाल में किये थे। 'प्रियप्रवास' की राधा का रूप-केवल श्रृंगार और विप्रलम्भ को ही लेकर नहीं चला है। इसमें राधा एक स्वदेशानुरागिनी नायिका के रूप में आती है-जिसने समस्त ब्रज के दुःख के साथ अपना दुःख मिला दिया है। राधा स्पष्ट कहती है-

**"मैं ऐसी हूँ न जिन दुःख से कष्टिता**

**शोक-मग्ना।**

**हा ! जैसी हूँ व्यथित ब्रज के वासियों के दुःखों से।"**

'प्रिय-प्रवास' के उद्धव भी ज्ञान का उपदेश न देकर लोक-सेवा की प्रेरणा देने जाते हैं। कृष्ण भी लोक-सेवा में रत हैं। इसलिए उद्धव गोपियों से कहते हैं कि कृष्ण को प्राप्त करने का एकमात्र मार्ग-लोक-सेवा है। इसमें वियोग-वर्णन है अवश्य, परन्तु उसका स्वरूप लोक-सेवा की भावना से ही ओत-प्रोत रहा है। यह नवीनता तो अवश्य है, परन्तु ऐसी नवीनता है जिसने माधुर्य, तन्मयता एवं सरलता का गला घोट दिया है। कुछ आलोचकों का कहना है कि 'भ्रमरगीत' के मूल प्रेरक-सम्बन्धी इन प्रसंगों को भ्रमरगीत-परम्परा में स्थान नहीं मिलना चाहिए। परन्तु सन्देश का प्राधान्य तथा गोपी-उद्धव, राधा-उद्धव या यशोदा-भ्रमर सम्वाद होने के कारण इनकी गणना इस प्रसंग के अन्तर्गत करनी ही पड़ेगी। इनका मूल-स्वर भी वेदना का ही रहा है। यह दूसरी बात है कि यह वेदना विरह-जनित न होकर लोक-सेवा आदि का दूसरा रूप धारण कर लेती है।

**मैथिलीशरण गुप्त** ने भी 'द्वापर' में भ्रमरगीत-प्रसंग पर कलम चलाई है। इन्होंने एक मौलिकता दिखाई है, और वह यह कि यहाँ भ्रमर न आकर एक विहंग उड़ता हुआ आ जाता है और गोपियाँ उसी विहंग को लक्ष्य कर उद्धव को उपालम्भ

सुनाने लगती हैं। गुप्तजी रामभक्त हैं, इसलिए तुलसी की गोपियों के समान इनकी गोपियाँ भी पूर्ण पवित्र है-केवल कहीं-कहीं अपनी वाग्विदग्धता अवश्य दिख जाती है।

## **'रत्नाकर' : रीति और भक्ति का विचित्र समन्वय**

इसके उपरान्त हम 'उद्धव-शतक' के रचयिता जगन्नाथदास 'रत्नाकर' पर आते हैं। रत्नाकर सूर की भ्रमरगीत-परम्परा के पूर्ण अनुगामी रहे हैं-उद्देश्य, पद्धति आदि सभी दृष्टियों से। कला की दृष्टि से रत्नाकर में भक्तिकाल एवं रीतिकाल का विचित्र समन्वय हुआ है। उद्धव-शतक इसका सबसे सबल प्रमाण है। उनमें भक्ति की गहनता और तन्मयता भी है, और साथ ही रीतिकालीन वाग्वैदग्ध्य भी। उनमें जहाँ एक ओर सूर के हृदय की वेबसी है, वहीं दूसरी ओर नन्ददास का तर्क और परिहास भी है। यहाँ गोपियाँ प्राचीन स्मृति के आधार पर ही कृष्ण के जीवन के तुलनात्मक चित्र उपस्थित करती हैं। साथ ही वे यह भी मान लेती हैं कि 'कान्ह' और 'ब्रह्म' वास्तव में एक ही हैं। परन्तु एक भक्त-हृदय अद्वैत की भावना को कैसे स्वीकार कर सकता है ? वह प्रेम के लिए द्वैत का व्यवधान चाहता है। इसलिए 'उद्धव-शतक' की गोपियाँ द्वैतता के इस सम्बन्ध को शाश्वत बनाये रखने के लिये उत्सुक है। वे मुक्ति भी नहीं चाहती। रूप-रंग हीन निर्गुण की भावना आसक्ति भी सम्भव नहीं है। 'रत्नाकर' की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनमें वर्णन में व्यंग्य के साथ-साथ मार्मिकता यथेष्ट मात्रा में है। उन्होंने हृदय के उन कोमल भावों का जिनके सामने तर्क नहीं चलता, चित्र खींचा है। उनके द्वारा अंकित कृष्ण की स्मृति, गोपियों की दशा, उद्धव के उपदेश तथा गोपियों पर हुई उनकी प्रतिक्रिया के चित्र अत्यन्त मार्मिक एवं मनोरम बन पड़े हैं। गोपियों के 'नन्दलला' ब्रह्म और मुक्ति से भी श्रेष्ठ है। उनकी प्राप्ति के लिए वे 'सबै सांसद'

सहने के लिए प्रस्तुत है, परन्तु उन्हें केवल यह विश्वास हो जाना चाहिए कि ऐसा करने से वे अपने प्रियतम को प्राप्त कर सकेंगी –

**“सहि हैं तिहारे कहे सांसत सबै पै बसि,  
एती कहि देउ कन्हैया मिलि जायगो।”**

परिणामस्वरूप उद्धव अन्त में निर्गुण और ज्ञान का सन्देश भूलकर, प्रेम-रस में पगे हुए कृष्ण के पास मथुरा लौटते हैं, जिनके –

**“एक कर राजै नवनीत जसुदा को दियो,  
एक कर वंशी वर राधिका पठाई है।”**

‘रत्नाकर’ के इस भ्रमरगीत का अपना महत्व है। इसमें भागवत, सूर, नन्ददास की परम्परा का पालन किया गया है, जो वस्तुगत और कलात्मक नवीनता के पुट से और भी अधिक मनोरम बन गया है। परन्तु एक बात है। इसमें नन्ददास के तर्कों का तो मजा आ जाता है, परन्तु सूर की-सी तन्मयता एवं विभोरता सर्वत्र नहीं मिल पाती। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें कृष्ण और गोपियों में तुल्यानुराग की प्रतिष्ठा की गई है, जो इस परम्परा को ‘रत्नाकर’ की एक मौलिक देन है। सूर में यह तुल्यानुराग अप्रत्यक्ष और सांकेतिक ही रहा है।

वर्तमान काल में उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त अन्य अनेक कवियों ने भी इस प्रसंग को लेकर काव्य-रचना की है। इनमें डा० रमाशंकर शुक्ल ‘रसाल’ (उद्धव-शतक) द्वारिकाप्रसाद मिश्र (कृष्णायन-सागर) डा० श्यामसुन्दरलाल दीक्षित (श्याम-सन्देश) आदि कवियों के नाम उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार भ्रमरगीत परम्परा भागवत से लेकर अद्यावधि अबाध रूप से बहती चली आई है, जिसमें ‘हाटक’ भी हैं और फाटक भी है, अर्थात् अच्छा भी है और बुरा भी है। समय के अनुसार इसके मूल उद्देश्य में भी किंचित परिवर्तन होता रहा है। क्योंकि यह प्रसंग प्रत्येक युग के कवियों

को अपनी ओर आकर्षित करता रहा है, इसी कारण इसमें इतनी समृद्धि, इतना निखार, इतनी मार्मिकता और इतनी हृदयस्पर्शिता का समावेश होता आया है, जो अन्य काव्य-परम्पराओं में दुर्लभ ही है। वस्तुतः भ्रमरगीत प्रसंग हिन्दी-साहित्य का एक अत्यधिक लोकप्रिय प्रसंग रहा है-जिसमें भक्तिकाल में भक्ति की शीतल, शान्तिदायिनी भागीरथी प्रवाहित हुई थी और आधुनिक काल में युग की नवीन समस्याएँ मुखरित हो उठी हैं।

### सन्दर्भ-सूची

- सूर सागर में भक्ति विवेचन और विश्लेषण – डॉ. उषा कुमारी।
- आधुनिक ब्रजभाषा – काव्य-परम्परा और पारावार ब्रज कौं-डॉ. आर.पी. वर्मा
- हिन्दी साहित्य का इतिहास-रामचन्द्र शुक्ल
- सूरदास .... नंद किशोर नवल
- हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास-बच्चन सिंह
- सूर साहित्य – हाजारी प्रसाद द्विवेदी।
- सूर साहित्य में लोक संस्कृति-आद्या प्रसाद त्रिपाठी
- भ्रमरगीत-परम्परा-उद्भव और विकास-डॉ. आर.पी. वर्मा
- सूरकाव्य की सामाजिक एवं साहित्यिक प्रासंगिकता- डॉ. अशीष कु० मिश्रा
- महाकवि सूरदास-नंददुलारे बाजपेयी
- सूर साहित्य-हजारी प्रसाद द्विवेदी।

---

*Copyright © 2016, Dr. R.P.Verma. This is an open access refereed article distributed under the creative common attribution license which permits unrestricted use, distribution and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited.*